International Journal of Humanities and Social Science Research
ISSN: 2455-2070; Impact Factor: RJIF 5.22
Received: 21-04-2019; Accepted: 23-05-2019
www.socialsciencejournal.in
Volume 5; Issue 4; July 2019; Page No. 168-171

सामाजिक समरसता और भारतीय दर्शन

डॉ प्रवेश कुमार
सहायक प्रोफेसर, तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक सिद्धांत का केंद्र, स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली, भारत

प्रस्तावना

मानवीय समाज की आदर्शात्मक सङ्कल्पना का विचार मानव मनीषियों में प्राचीनकाल से ही स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसका विचार भारतीय प्राचीन साहित्यों के प्रारम्भिककाल से ही चला आ रहा है। वैदिक संहिताएँ विश्वसाहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक हैं। जिसमें भारतीय संरचना के सार्वभौमिक अन्तस्तत्त्व सन्निहित हैं। सार्वभौमिकता के सन्दर्भ में सामाजिक संरचना की उपादेयता आज के समय में और अधिक प्रबलता के साथ उभर कर सामने आयी है। उक्त प्रकार के समाज की संकल्पना जैवीय अस्तित्त्व का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग रहा है। सामाजिक संरचना का विचार पूर्णतः मानसिक संवेदनाओं पर ही आधारित होता है। एक समाज में रहने वाले लोगों का पारस्परिक जुडाव ही उसकी सम्भावनाओं को सम्बलता प्रदान करती है। प्रारम्भिक जीवन के कुछ समय बाद ही समाज की संकल्पाना का अभ्युदय हो गया था। जैसे-जैसे एक प्रकार के जीवों की संख्या में वृद्धि होती गयी वैसे-वैसे समाज का अस्तित्त्व अपने सार्थक स्वरूप को प्राप्त करता गया। समाज की यह परिकल्पना प्रायः सभी जीवों में पायी जाती है।

समरसता एक ऐसा विषय है जिसकी उपादेयता प्राचीनकाल से मानी जाती रही है। प्राचीन साहित्यों में इसका बहुतायत मात्रा में विवेचन किया गया है। वेद उपनिषद से लेकर आधुनिक साहित्य पर्यन्त प्रायः सभी प्रकार के ग्रन्थों में इसको पर्याप्त स्थान मिला है। समरसता एक ऐसा सिद्धान्त है जो सार्वभौमिक होने के साथ साथ सामाजिक जीवन की धुरी है। समाज की संकल्पना का अस्तित्व ही समरसता के सिद्धान्त पर ही टिका होता है। समरसता की वास्तविक स्थिति ही किसी समाज की दिशा या दशा तय करती है। जिस किसी समाज में इस सिद्धान्त का अनुपालन जितने सुनियोजित और पारदर्शी तरीके से होता है वह समाज उतना ही अधिक उन्नत और सुव्यवस्थित होता चला जाता है। सभी समाज का मौलिक स्वरूप प्रायः सामान्य ही रहता है परन्तु यदा कदा देश काल और परिस्थिति के अनुसार उनमें किञ्चित परिवर्तन की भी सम्भावना निहित रहती है। प्रत्येक समाज का अपना एक सर्वसम्मत उपास्य देव होता है जीवन यापन की एक विशेष पद्धति होती है जो विविध नियम और अनुशासनों में उपनिबद्ध रहती है। कालान्तर में यही सिद्धान्त रीति अथवा परम्परा की संज्ञा को धारण कर लेते हैं। समय के साथ इनमें कुछ नूतन मान्यताएँ जुडती जाती हैं और उस समाज का स्वरूप विस्तृत होता चला जाता है।

भारतीय समाज के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में यदि हम बात करें तो प्रतीत होता है कि सम्भवतया वैदिक संस्कृति से पूर्व भी अनेकों संस्कृतियाँ अस्तित्त्व में रही होंगी, क्योंकि इसकी विचारधारा इतनी व्यापक तथा प्रौढ़ है कि इसको आदिम संस्कृति नहीं माना जा सकता। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को प्राच्य संस्कृति के क्रमिक विकास के रूप में देखा जा सकता है। उक्त संस्कृति का प्रभाव इतना व्यापक था कि अन्य सभी संस्कृतियाँ अपने अस्तित्त्व की स्वतन्त्रता को बनाए रखने में समर्थ न हो सकीं और वैदिक संस्कृति में विलीन होती चली गईं ।

भारतवर्ष में चाहे कितनी ही संस्कृतियाँ अस्तित्त्व में रही हों परन्तु इसके अभ्युदय का श्रीगणेश वैदिककाल से ही सम्भव हो सका है। आदिकाल में मनुष्य अत्यन्त क्रूर था। समाज में पाशविक वृत्ति की प्रधानता थी। सम्भवतया मानवीय मूल्यों का विकास नहीं हो सका था इसलिए उचित-अनुचित का निर्धारण करने वाला कोई मानदण्ड नहीं था, परिणामस्वरूप चारो तरफ अराजकता परिव्याप्त थी। अराजकता में सन्नद्ध लोगों को नियन्त्रित करने के लिए वेदों का प्रणयन हुआ, जिसमें मानवीय मूल्यों का सम्यक् निर्धारण किया गया है। समाज को उचित-अनुचित कार्यों के बीच अन्तर निर्धारित करने वाला मापक मिला, जिसके परिणामस्वरूप लोगों में आत्मचेतना के स्वर मुखरित होने लगे। इस आत्मचेतना के विकास में वेदोक्त मानवीय मूल्य अत्यन्त सहायक सिद्ध होने लगे। इसलिए इनके विकास की परम्परा क्रमिक रूप से विकसित होती चली गई। जीवन में मानवीय मूल्यों के सन्निवेश से सभी लोगों को जीव-मात्र का महत्त्व समझ में आने लगा तथा प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए प्रवृत्त होने लगे। सभी की समस्याएँ प्रायः समान थीं, इसलिए सभी से पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा की जाने लगी। यहीं से मानवाधिकार के विकास का शुभारम्भ हुआ। मानवाधिकारों का स्वरूप सार्वभौमिक है। प्रत्येक समाज की संस्कृति के अनुरूप मानवाधिकारों की प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। आधुनिक समाज में मानवीय मूल्यों को अधिकार के रूप में विश्व के समस्त समाजों अथवा राष्ट्रों में समरूपता के लिए आवश्यक माना जाता है।

मानवता भारतीय समाज की मौलिक संकल्पना रही है। समाज में रहना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रकार समाज मानव-जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। संरचना की दृष्टि से समाज प्रायः अधिकार और कर्त्तव्य रूपी दो आधार स्तम्भों पर आश्रित दिखाई पड़ता है। सामाजिक उत्कर्ष हेतु किसी भी समाज में इनका समन्वय बने रहना अत्यन्त आवश्यक होता है। अधिकारों और कर्त्तव्यों में समन्वय के आधार पर ही किसी भी समाज की दिशा और दशा निर्धारित होती है। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए वेदों में विभिन्न अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण किया गया है। कर्त्तव्यों के निर्धारण का मुख्य आधार योग्यता को माना गया है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता का सटीक आकलन करके तदनुरूप ही कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए, योग्यता का सही आकलन जीवन के उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होता है। कर्त्तव्यों के निर्धारण का उक्त आधार मानव जीवन के विकास की दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक है, परन्तु परवर्ती विद्वानों द्वारा इसकी मनमानी

व्याख्या की गई, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक समाज की पूरी आधारशिला ही परिवर्तित हो गई। भारतीय मनीषियों में सुदृढ़ समाज की परिकल्पना का विचार पुरातन काल से चला आ रहा है। वेदों में विभिन्न सामाजिक पक्षों पर अत्यन्त वैज्ञानिक चिन्तन हुआ है। सम्पूर्ण अथर्ववेद में समाज के विविध पक्षों का विश्लेषण किया गया है। चूँकि समाज के विविध पक्षों में मानवाधिकारों की अवधारणा अपरिहार्य है, इसलिए इसमें मानवाधिकारों की संकल्पना भी सन्निहित है।

वेद प्रायः समता, स्वतन्त्रता, शिक्षा, अभिव्यक्ति आदि उन सभी मानवीय अधिकारों का विधान करते हैं, जो एक मनुष्य को समाज में सम्मानपूर्वक जीवन-यापन के लिए आवश्यक हैं। इनमें अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। वेदोक्त अधिकारों का विश्लेषण भी कर्त्तव्यों में ही सन्निहित है। कर्त्तव्य सदा आत्म केन्द्रित होता है जबकि अधिकार दूसरों से प्राप्त किया जाता है। दूसरों की अपेक्षा व्यक्ति को स्वयं के परिष्कार पर अधिक ध्यान देना चाहिए। कर्त्तव्यों का सीधा सम्बन्ध आचरण से होता है और आचार की शुचिता पर वेद विशेष बल देता है। यदि सभी व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् निर्वहन करते रहें तो पारस्परिक अधिकार की प्रतिपूर्ति स्वतः ही होती रहेगी। कर्त्तव्यविमुखता ने व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति सचेत बनाया है। मानवीय अधिकारों के हनन की समस्याओं की अधिकता के कारण भी व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सजग हुआ है। परिणामतः आज भारत सहित लगभग 47 देशों में मानवाधिकार आयोग की स्थापना की जा चुकी है। मानवीय अधिकार प्राचीन काल में भी विद्यमान थे। सामाजिक संरचना इस तरीके की थी कि व्यक्ति के अधिकारों की प्रतिपूर्ति स्वतः ही हो जाया करती थी और जहाँ कहीं समस्या थी भी वहाँ व्यक्ति ने परिस्थिति के साथ समझौता कर लिया था।

आधुनिक मानवाधिकार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि-"मानवाधिकार का अभिप्राय मानव के उन सभी अधिकारों से है जो कि मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, भौतिक, सामाजिक एवं श्रेष्ठ जीवन-यापन और विकास के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, तथा मानव के सम्मान व गरिमा के साथ जीने के लिए अनिवार्य हैं।" ऐसे अधिकार मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त हाते हैं।

चारो वेदों में परोक्ष या अपरोक्ष रूप में अधिकार और कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। वेदों को मौलिक अधिकारों के आदिस्रोत के रूप में प्रतिपादित करते हुए न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर कहते हैं कि-"मानवाधिकारों की संकल्पना पश्चिम की देन है, क्योंकि अधिकारों की क्रान्ति का आरम्भ वर्तमान युग में ही दिखाई देता है, फिर भी समानता, सहयोग और सहकारिता के सिद्धान्त के जनक वेदों में मानवाधिकार की धारणा स्वाभाविक रूप से देखी जा सकती है।" न्यायमूर्ति भगवती भी उक्त मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि "ये मूल अधिकार वैदिक काल से इस देश के लोगों द्वारा संजोए आधारभूत मूल्यों का निरूपण करते हैं और व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करने तथा ऐसी दशाएँ उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त हैं, जिनमें प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास कर सकता है।" इस प्रकार मानवाधिकार व्यक्तित्व के विकास की मौलिक आवश्यकता है।

अधिकार के सन्दर्भ में वेदों का दृष्टकोण अत्यन्त व्यापक है। वेदों में जीवमात्र को आत्मवत् समझने की शिक्षा दी गयी है। वहाँ पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी के लिए अधिकारों की बात की गयी है। वेद की दृष्टि में सभी व्यक्ति समान हैं, अधिकार और कर्त्तव्य के आधार पर उनमें किसी प्रकार का विभेद नहीं किया गया है। सभी व्यक्ति समान रूप से सम्मानपूर्ण जीवन जीने के अधिकारी हैं। ऋग्वेद में व्यक्ति को सदा मनुष्य बनने का उपदेश दिया गया है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को मानवतापूर्वक आचरण करना चाहिए। महाभारत में मानवता को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। मानवता सम्बन्धी वैदिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए निम्न मन्त्र को उद्धृत किया जा सकता है-

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।"
"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।"

अर्थात् जो मनुष्य सभी जीवों को अपने जैसा मानकर व्यवहार करता है उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, सच्चे अर्थों में यही मानवता है। अतः दूसरों के साथ हमें उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए जो हम दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते हैं। महाभारत में भी कहा गया है- आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। यह मानवता की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा है।

यदि हम दूसरों से सम्मान चाहते हैं तो हमें भी दूसरों का सम्मान करना चाहिए। मानवता एक सर्वसाधारण गुण है जिसका अनुपालन सभी व्यक्तियों के लिए अपरिहार्य है, इसके अभाव में मानव, मानव नहीं रह जाता। मानवता मानव का धर्म है। धर्म सदा धर्मी में ही रहता है। धर्म और धर्मी परस्पर आश्रित रहते हैं, दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। एक के नष्ट होते ही दूसरे की परिकल्पना भी समाप्त हो जाती है। मानव में यदि मानवता नहीं है तो वह मानव कहलाने का अधिकारी नहीं है। तभी वेद ने 'मनुर्भव' का सन्देश दिया। एक-दूसरे के साथ मानवतापूर्ण व्यवहार की आकांक्षा ही मानवाधिकार है। मानवाधिकार का सीधा-सीधा सम्बन्ध अहिंसा से है। वेद सदा अहिंसा और अविद्वेष का ही उपदेश देता है।

प्रत्येक मनुष्य को ऐसे ही कार्य करने चाहिए जिसमें प्राणिमात्र का कल्याण निहित हो। वेद मानव को मानव की रक्षा करने का सन्देश देते हैं। यजुर्वेद कहता है कि मनुष्य को इस संसार में त्यागपूर्वक भोग करना चाहिए, किसी प्रकार का लालच नहीं करना चाहिए अर्थात् अपने लिए जितना आवश्यक हो उतना लेकर शेष अन्यों के लिए छोड़ देना चाहिए। इसीलिए ही वैदिक ऋषि अपरिग्रह का सिद्धान्त दिये हैं। यह भी मानवता को ही द्योतित करता है। अतः मानवाधिकार की अवधारणा को भारतीय दृष्टिकोण के व्यापक फलक पर देखने की आवश्यकता है, जिसमें एकांगी नहीं वरन् भौतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक शम् भावना का समन्वित विकास हो। जीवमात्र को समग्रता के आलोक में देखना वेदोक्त मानवाधिकारों का सारतत्त्व है।

व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास में समानता के अधिकार की महती उपादेयता होती है। प्रशासन द्वारा उन्नति हेतु निष्पक्षरूप से सबको समान अवसर प्रदान करना समानता का अधिकार है। यह समानता व्यक्तियों में व्यावहारिक असमानता को दूर करती है अर्थात् कर्म अथवा जाति के आधार पर किसी को उच्च अथवा निम्न नहीं समझना चाहिए।

वेदों में समानता के अधिकार को बहुत सुचारु रूप से प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद का सम्पूर्ण सांमनस् सूक्त (10/91/4) समानता का ही विधान करता है। जिसमें ऋषि कहता है कि सबका हृदय समान हो, सबका मन एक समान हो अर्थात् परस्पर किसी प्रकार का वैमत्य न हो-

"समानी वः आकूति समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥"

अथर्ववेद भी उपर्युक्त बात को ही पुष्ट करते हुए किसी के मन में किसी के प्रति कोई द्वेष न हो इस प्रकार का सन्देश देता है। मन्त्र-

"सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभीहर्यत वत्सं जातिमिवाघ्न्या॥"

वैचारिक दृष्टि से भी सभी मनुष्यों में समानता होनी चाहिए अर्थात् पारस्परिक विद्वेष के जितने भी कारण हैं उनका नाश करके पारस्परिक सौहार्द्रतापूर्वक जीवन-यापन में सभी को प्रवृत्त होना चाहिए। सभी प्रकार के कार्यों पर सबका समान अधिकार है अर्थात् कोई भी व्यक्ति स्वेच्छानुरूप इच्छित कार्य का चुनाव कर सकता है इसलिए कोई भी कार्य जाति, लिंग, वर्ण आदि के आधार पर मनमाने तरीके से किसी पर प्रत्यारोपित नहीं किया जना चाहिए। सामाजिक सम्बन्धों में परस्पर प्रेम और सहयोग की भावना का विकास हो इसके लिए वेद में कहा गया है कि पुत्र माता-पिता की आज्ञा का पालन करे अर्थात् अपने से बड़ों का सम्मान करे, पत्नी सदा मधुर और शान्तिप्रद वाणी बोले। भाई, बहन, माता, पिता, पुत्र तथा परिवार के सभी सदस्य परस्पर मधुर, शान्तिप्रद तथा कल्याणकारी वाणी बोलें।

सभी को परस्पर प्रीतिपूर्वक समाज में रहना चाहिए, सभी को समान रूप से कार्य करना चाहिए सभी को मिलकर एक साथ उन्नति करनी चाहिए आदि विषयों को वेद ने स्पष्ट करते हुए कहा है-

"ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधिराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥"

अथर्ववेद में समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है क्रमशः ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन सर्वथा कर्म पर अधारित था। समाज का एक वर्ग जो शैक्षणिक गतिविधियों में रुचि रखकर तदनुरूप कार्यरत रहता था, ब्रह्मण कहलाता था। समाज का एक वर्ग जो रक्षा,शस्त्र, युद्धादि रक्षण गतिविधियों में रुचि रखता था क्षत्रिय कहलाता था। समाज का एक वर्ग जो वाणिज्य, व्यापार आदि में रुचि लेता था वैश्य कहलाता था तथा समाज में एक और वर्ग था जो स्वरुचि से हर संभव सबकी सहायता करता था, शूद्र कहलाता था। जो किसी प्रकार का कार्य नहीं करता था उसको दस्यु कहा जाता था। उनका समाज के विकास में इनका कोई विशेष योगदान नहीं होता था अतः सामाजिक वर्गों में इनकी गणना नहीं की गयी। वेदों में कर्मादि के आधार पर समाज में ऊँच-नीच की बात नहीं की गयी है। यद्यपि पठन-पाठन का मुख्य कार्‍य ब्रह्मण करता था तथापि समाज के सभी वर्गों को वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ने का समान अधिकार दिया गया है। यद्यपि समाज विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था तथापि समाज में साथ-साथ चलने, परस्पर प्रीति पूर्वक वार्त्तालाप आदि के उपस्थापन के स्पष्ट संकेत हैं। वेदों में सामाजिक असमानता तथा ऊँच-नीच की भावना का सर्वथा विरोध किया गया है, कहा गया है कि कुल, वंश, कार्य आदि के आधार पर कोई भी व्यक्ति बड़ा या छोटा नही होता। पारस्परिक विद्वेष का विनाश करके प्रत्येक व्यक्ति सुखपूर्वक जीवन-यापन करे। सभी के साथ-साथ निवास,भोजन,पानी, उपासना आदि के अनेकों स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। अथर्ववेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि हम किसी को दास न बनाएँ और न ही कोई हमें दास बनाए। इस प्रकार हम सभी दिशाओं में स्वच्छन्दरूप से विचरण कर सकें। वैदिक साहित्य में सभी को समानरुप से अन्न का अधिकारी माना गया है। सभी को संगठन में एक साथ रहने की बात कही गयी है। मन्त्र-

"अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अन्मीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥"

अर्थात् यह संसार सागर अत्यन्त दुर्गम है। एक-दूसरे के साथ मिलकर प्रीतिपूर्वक जीवन-यापन करने में सबका उत्थान निश्चित है। वीरतापूर्वक आचरण करते हुए मित्र बनकर एक-दूसरे का सहयोग करते हुए जीवन के विभिन्न सुखों का उपभोग करो। इस संसार में सभी मनुष्य समान हैं अतः सभी को परस्पर सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए, चाहे वह आर्य अर्थात् अध्ययन-अध्यापन करने वाला, युद्धविद्यानिष्णात् हो अथवा शूद्र अर्थात् शौचकर्मकार, नापित,कर्मकार कोई भी हो सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए।

वसुधैव कुटुम्बकम्' का मूल आधार वेद ही है, जिसमें सम्पूर्ण पृथ्वी को माता की संज्ञा दी गयी है। सभी को परमात्मा की सन्तान के रूप में देखा गया है, सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने तथा अविद्वेषी होकर परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार करने का विधान किया गया है। वेद सामूहिक विकास की भावना में विश्वास करता है। सामूहिक जगहों पर सबका समान अधिकार है। कहीं भी मात्र किसी वर्गविशेष के ही उत्थान की बात नहीं की गयी है, अपितु मानवमात्र के कल्याण की प्रार्थना दिखायी पड़ती है। जब सभी मनुष्य समान हैं तो सभी के मानवीय अधिकार भी समान हैं। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हैं किसी से भी बर्बरतापूर्वक व्यवहार नहीं करना चाहिए अपितु अथर्ववेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि सभी मनुष्यों को परस्पर प्रीति पूर्वक व्यवहार करना चाहिए। किसी को किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए। दुष्ट व्यक्ति के नाश से अधिक दुष्टवृत्तियों के नाश पर बल दिया गया है। हमें इस प्रकार का व्यहार अपनाना चाहिए कि हमारा कोई भी शत्रु न हो। हमें सदा निर्भीक होकर जीना चाहिए। मन्त्र-

"अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥"

यजुर्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि जो सभी प्राणियों में अपने-आपको तथा अपने-आप में सभी को देखता है, उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता।

सभी वैदिक देवता अग्नि, वायु, मित्र, वरुण, पृथ्वी आदि सभी पर समान रूप से उपकार करते हैं। वेदों में अधिकार की दृष्टि से स्त्री और पुरुष में भेद नहीं किया गया है। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी शिक्षा, यज्ञ, व्यापार, नेतृत्त्व आदि का पूर्ण अधिकार दिया गया है।

अथर्ववेद में स्त्रियों को व्यापार आदि का अधिकार दिया गया है। स्त्रियाँ प्रायः सिलाई, कढाई, बुनाई, वस्त्रनिर्माण आदि का कार्य करके व्यापार में अपनी सहभागिता सुनिश्चित करने का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पारिवारिक निर्णयों के सन्दर्भ में स्त्री को ब्रह्मा कहा गया है। वेदों में सरस्वती को विद्या की अधिष्ठातृ देवी कहा गया है, जो एक स्त्री है। उक्त मान्यता शिक्षा में स्त्री के प्रतिनिधित्व को दर्शाती है। एक स्थान पर स्त्री को विभिन्न शास्त्रार्थों में भाग लेने का वर्णन किया गया है। इन्द्राणी को शिक्षा के साथ-साथ सेना के नेतृत्व का कार्य-भार भी दिया गया है। वह अजेय बनकर राज्य का उत्कर्ष करती है। वेदों में अनेकों ऋषिकाओं के नाम प्राप्त होते हैं,

इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा स्त्रियों के लिए भी समान है।

सन्दर्भ सूची

1. अम्बेडकर, बी. आर (2002): शूद्र कौन थे, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, मध्यप्रदेश, भारत।
2. अम्बेडकर, बी. आर (2010): जाती प्रथा का उच्छेद, गौतम बुक्स, दिल्ली, भारत।
3. अल्तेकर, अनन्त सदाशिव (1980, प्रथम संस्करण): प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति. मनोहर प्रकाशन, वाराणसी, भारत।
4. उपाध्याय, बलदेव (1967): वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, शारदा मन्दिर, वाराणसी, भारत।
5. उपाध्याय दीनदयाल (2014) एकात्म मानववाद विवेचन, प्रयात प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
6. कपूर, मस्तराम(2003) राममनोहर लोहिया : संघर्ष और चिन्तन, प्रकाशन विभाग, सूचना प्रसारण मन्त्रालय।
7. कमल के.एल. (2010): भारतीय राजनीतिक चितंन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयफर, भारत।
8. कुमार प्रवेश (2011): दलित अस्मिता की राजनीति, मानक पब्लिकेशन दिल्ली भारत।
9. कुमार, प्रवेश (2012): दलित अस्मिता के प्रतीक, देशना प्रकशन, दिल्ली, भारत।
10. कुमार, शशिप्रभा,(2005): वैदिक संस्कृति के विविध आयाम. विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
11. कुमार, प्रवेश (2014 अक्टूबर-दिसंबर): हिन्दू जाति का सच, शोधपर्व वाल्यूम-1 भारत।
12. . कोसंबी, दामोदर धर्मानन्द (2007): प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, (अनु.) गुणाकर मूले. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, भारत।
13. कृष्णचन्द्र(1992): भारतीय संस्कृति, सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
14. गोपाल, कृषण (2015): भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता, मध्य प्रदेश ग्रंथ अकादमी, भारत।
15. गोयल, देशराज (1979): राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, भारत।
16. गोलवलकर, मा°स° (सवंत 2056): विचार नवनीत, ज्ञान गंगा प्रकाशन, राजस्थान भारत।
17. छान्दोग्योपरिषद्: गीता प्रेस गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत।